सबद
पीयर-रिव्यूड त्रैमासिक शोध पत्रिका
वर्ष- 1, अंक- 1 (जनवरी–मार्च 2026)
ISSN: 3139-5317 (Online), 3139-5325 (Print)

राष्ट्रीय आंदोलन और हिन्दी उपन्यासों में दलित चेतना

शालिनी यादव
वी. एस. एस. डी. कॉलेज कानपुर

सारांश

प्रस्तुत शोध–लेख में राष्ट्रीय आंदोलन और पूर्व–स्वाधीनता कालीन हिन्दी उपन्यासों में अभिव्यक्त दलित चेतना का विश्लेषण किया गया है। भारतीय समाज में जाति–व्यवस्था ने जहाँ सामाजिक संरचना को व्यवस्थित किया, वहीं उसने अस्पृश्यता, बहिष्कार और मानवीय गरिमा के हनन को भी स्थायी रूप दिया। उन्नीसवीं शताब्दी के समाज–सुधार आंदोलनों से प्रारंभ होकर बीसवीं शताब्दी के राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन तक दलित प्रश्न सामाजिक से राजनीतिक विमर्श का विषय बन गया। इस परिवर्तन ने हिन्दी उपन्यासों को गहरे रूप में प्रभावित किया। प्रेमचन्द के ‘प्रेमाश्रम’, ‘रंगभूमि’, ‘कर्मभूमि’ और ‘गोदान’ में जातिगत शोषण, सामाजिक पाखंड और आत्मसम्मान की चेतना का यथार्थ चित्रण मिलता है। ‘प्रेमाश्रम’ में जाति-आधारित श्रम-विभाजन और प्रतिरोध, ‘रंगभूमि’ में प्रीतिभोज के माध्यम से समता का प्रतीकात्मक उद्घोष, ‘कर्मभूमि’ में शैक्षिक बहिष्कार तथा ‘गोदान’ में धार्मिक पाखंड की आलोचना ये सभी प्रसंग दलित चेतना के विविध आयामों को स्पष्ट करते हैं। इसी प्रकार जयशंकर प्रसाद के ‘कंकाल’ तथा पाण्डेय बेचन शर्मा ‘उग्र’ के ‘मनुष्यानन्द’ में भी जातिगत विषमता और सामाजिक संकीर्णता पर तीखा प्रहार किया गया है। अंततः यह सिद्ध होता है कि पूर्व–स्वाधीनता हिन्दी उपन्यासों में दलित चेतना केवल करुणा का भाव नहीं, बल्कि सामाजिक न्याय, समानता और मानवीय गरिमा की स्थापना का सशक्त साहित्यिक प्रयास है। राष्ट्रीय आंदोलन और हिन्दी उपन्यासों की यह चेतना परस्पर पूरक सिद्ध होती है।

शब्द–कुंजी: राष्ट्रीय आंदोलन, दलित चेतना, हिन्दी उपन्यास, जाति–व्यवस्था, सामाजिक समानता।

मूल आलेख-

भारतीय समाज की संरचना में जाति-व्यवस्था एक जटिल और बहुस्तरीय तंत्र के रूप में विद्यमान रही है। इस व्यवस्था ने जहाँ सामाजिक संगठन को एक प्रकार की संरचना प्रदान की, वहीं दूसरी ओर इसने सामाजिक असमानता, बहिष्कार और मानवीय गरिमा के हनन को भी स्थायी रूप दे दिया। तथाकथित ‘अस्पृश्य’ या ‘दलित’ वर्ग सदियों तक सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक अधिकारों से वंचित रहा। उन्हें मंदिरों, शिक्षण संस्थानों, सार्वजनिक संसाधनों और सामाजिक सहभागिता से दूर रखा गया। इस प्रकार दलित प्रश्न केवल सामाजिक स्तर का विषय नहीं था, बल्कि यह मानवाधिकार और नैतिकता का भी प्रश्न था। उन्नीसवीं शताब्दी में विभिन्न समाज-सुधार आंदोलनों ने जाति-व्यवस्था और अस्पृश्यता के विरुद्ध स्वर उठाया। राजा राममोहन राय, स्वामी दयानंद सरस्वती, ज्योतिराव फुले तथा अन्य सुधारकों ने सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध अभियान चलाए। किंतु इन प्रयासों की सीमा मुख्यतः सामाजिक सुधार तक ही रही। बीसवीं शताब्दी के आरंभ में जब राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन व्यापक रूप धारण करने लगा, तब दलित प्रश्न को एक नए आयाम में देखा जाने लगा। यह स्पष्ट हुआ कि राजनीतिक स्वतंत्रता का स्वप्न तब तक अधूरा रहेगा, जब तक समाज के भीतर व्याप्त असमानता और भेदभाव समाप्त नहीं होंगे। राष्ट्रीय आंदोलन ने भारतीय समाज के विविध वर्गों को एक मंच पर लाने का प्रयास किया। इस प्रक्रिया में दलित समुदाय की भागीदारी और उनके अधिकारों का प्रश्न अनिवार्य रूप से सामने आया। इसी ऐतिहासिक संदर्भ में हिन्दी साहित्य, विशेषतः उपन्यास, ने सामाजिक यथार्थ को अभिव्यक्त करने का

वर्ष- 1, अंक- 1 (जनवरी–मार्च 2026)
ISSN: 3139-5317 (Online), 3139-5325 (Print)

दायित्व निभाया। हिन्दी उपन्यासों में दलित जीवन की करुणा, संघर्ष और आत्मसम्मान की चेतना का चित्रण केवल सहानुभूति का परिणाम नहीं था, बल्कि यह राष्ट्रीय पुनर्जागरण की व्यापक चेतना से जुड़ा हुआ था।

भारतीय समाज में अस्पृश्यता की समस्या का संबंध केवल धार्मिक आस्थाओं से नहीं, बल्कि सामाजिक-आर्थिक संरचना से भी था। श्रम-विभाजन के नाम पर कुछ जातियों को 'नीच' और 'अपवित्र' घोषित कर दिया गया। उनके व्यवसायों को तिरस्कार की दृष्टि से देखा गया और उन्हें सामाजिक मुख्यधारा से अलग कर दिया गया। यह स्थिति पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती रही और एक कठोर सामाजिक सत्य के रूप में स्थापित हो गई। उन्नीसवीं शताब्दी में अंग्रेजी शासन के आगमन के साथ भारतीय समाज में आधुनिक शिक्षा और पश्चिमी विचारधाराओं का प्रवेश हुआ। समानता, स्वतंत्रता और मानवाधिकार की अवधारणाओं ने परंपरागत मान्यताओं को चुनौती दी। ईसाई मिशनरियों द्वारा दलित समुदायों में धर्म-परिवर्तन की घटनाओं ने भी समाज-सुधारकों का ध्यान इस समस्या की ओर आकर्षित किया। परिणामस्वरूप अस्पृश्यता-निवारण के प्रयास आरंभ हुए।

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों में यह प्रश्न राष्ट्रीय राजनीति का हिस्सा बनने लगा। 1917 के कांग्रेस अधिवेशन में अस्पृश्यता-निवारण को सार्वजनिक रूप से स्वीकार किया गया। महात्मा गांधी ने 'हरिजन' शब्द का प्रयोग करते हुए इस वर्ग को समाज की मुख्यधारा में लाने का प्रयास किया। मंदिर-प्रवेश आंदोलन, कुओं और तालाबों के उपयोग का अधिकार तथा शिक्षा के अवसरों का विस्तार ये सभी कार्यक्रम दलित प्रश्न को सामाजिक सुधार से आगे बढ़ाकर राष्ट्रीय चेतना से जोड़ने के प्रयास थे। इस कालखंड में यह विचार प्रबल हुआ कि विदेशी शासन से मुक्ति के साथ-साथ सामाजिक विषमता से मुक्ति भी आवश्यक है। यही वह बिंदु है जहाँ साहित्य और राजनीति का अंतर्संबंध स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। हिन्दी उपन्यासकारों ने इस ऐतिहासिक परिवर्तन को अपनी रचनाओं में संवेदनशीलता और यथार्थबोध के साथ प्रस्तुत किया।

राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन केवल औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध संघर्ष नहीं था; वह भारतीय समाज के आंतरिक पुनर्गठन का भी आंदोलन था। स्वदेशी आंदोलन, असहयोग आंदोलन और सविनय अवज्ञा आंदोलन ने समाज के विभिन्न वर्गों को सक्रिय भागीदारी के लिए प्रेरित किया। इस सहभागिता ने सामाजिक प्रश्नों को भी राष्ट्रीय विमर्श का अंग बना दिया। गांधी के नेतृत्व में राष्ट्रीय आंदोलन ने नैतिकता और सामाजिक सुधार को राजनीतिक संघर्ष से जोड़ा। अस्पृश्यता को 'पाप' और 'अधर्म' घोषित किया गया। यह घोषणा केवल धार्मिक अपील नहीं थी, बल्कि सामाजिक चेतना को झकझोरने का प्रयास थी। इस समय साहित्यकारों ने भी अपने दायित्व को समझा। उन्होंने समाज की वास्तविकताओं को कथा-साहित्य के माध्यम से प्रस्तुत किया। हिन्दी उपन्यासों में इस काल में यथार्थवाद का विकास हुआ। आदर्शवादी और रोमानी प्रवृत्तियों के स्थान पर सामाजिक यथार्थ को महत्व मिलने लगा। उपन्यासकारों ने गाँवों, कस्बों और नगरों के जीवन को चित्रित करते हुए जातिगत भेदभाव और सामाजिक विषमता को उद्घाटित किया। दलित पात्र अब केवल पृष्ठभूमि का अंग नहीं रहे, बल्कि कथा के केंद्र में आने लगे।

हिन्दी उपन्यास का आरंभिक चरण मुख्यतः नैतिक शिक्षा और मनोरंजन तक सीमित था, परंतु बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में यह विधा सामाजिक यथार्थ के चित्रण का सशक्त माध्यम बन गई। उपन्यास ने समाज के विविध पक्षों गरीबी, शोषण, स्त्री-स्थिति, किसान-जीवन तथा जातिगत असमानता को अभिव्यक्त किया। इस परिवर्तन के पीछे राष्ट्रीय आंदोलन की प्रेरणा महत्वपूर्ण थी। स्वतंत्रता की आकांक्षा ने साहित्यकारों को सामाजिक अन्याय के विरुद्ध मुखर होने का साहस दिया। दलित चेतना का उदय इसी प्रक्रिया का परिणाम था। यह चेतना केवल करुणा पर आधारित नहीं थी, बल्कि सामाजिक परिवर्तन की आकांक्षा से प्रेरित थी। हिन्दी उपन्यासों में दलित पात्रों का चित्रण करते समय लेखकों ने दो

ISSN: 3139-5317 (Online), 3139-5325 (Print)

महत्वपूर्ण आयामों को रेखांकित किया एक, सामाजिक अपमान और बहिष्कार की पीड़ा; दुसरा, आत्मसम्मान और अधिकार-बोध का उदय। यह दूसरा आयाम विशेष रूप से महत्वपूर्ण है, क्योंकि यही दलित चेतना का मूल तत्व है। राष्ट्रीय आंदोलन के प्रभाव से यह विचार विकसित हुआ कि प्रत्येक व्यक्ति समान अधिकारों का अधिकारी है और जाति के आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव अनुचित है।

साहित्य समाज का दर्पण कहा जाता है, किंतु वह केवल प्रतिबिंब प्रस्तुत करने तक सीमित नहीं रहता; वह समाज को दिशा भी देता है। पूर्व-स्वाधीनता काल में हिन्दी उपन्यासों ने सामाजिक विषमता को उजागर करते हुए पाठकों के भीतर संवेदना और विचार की प्रक्रिया को सक्रिय किया। दलित जीवन के चित्रण के माध्यम से लेखकों ने यह संदेश दिया कि राष्ट्रीय एकता तभी संभव है, जब समाज के सबसे वंचित वर्ग को सम्मान और समानता प्राप्त हो। राष्ट्रीय आंदोलन के समय साहित्य में जो जनवादी प्रवृत्ति विकसित हुई, उसने दलित प्रश्न को केंद्र में लाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। उपन्यासकारों ने सामाजिक यथार्थ को बिना आडंबर के प्रस्तुत किया और यह संकेत दिया कि राजनीतिक स्वतंत्रता सामाजिक समता के बिना अधूरी है।

पूर्व-स्वाधीनता कालीन हिन्दी उपन्यासों में दलित चेतना की सर्वाधिक सशक्त अभिव्यक्ति प्रेमचन्द के साहित्य में दिखाई देती है। प्रेमचन्द ने भारतीय समाज के यथार्थ को निकट से देखा और उसे अपनी रचनाओं में अत्यंत संवेदनशील तथा प्रखर दृष्टि के साथ प्रस्तुत किया। उनके उपन्यासों में दलित जीवन केवल सहानुभूति का विषय नहीं है, बल्कि वह सामाजिक अन्याय की संरचनात्मक आलोचना का माध्यम बनता है। 'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'कर्मभूमि' और 'गोदान' जैसे उपन्यासों में सामाजिक विषमता, जातिगत विभाजन और धार्मिक पाखंड का चित्रण विविध रूपों में मिलता है। प्रेमचन्द के यहाँ दलित पात्रों का चित्रण यथार्थवादी है; वे उन्हें निष्क्रिय या दयनीय रूप में प्रस्तुत नहीं करते, बल्कि उनमें आत्मसम्मान और अधिकार-बोध की चेतना भी दिखाते हैं।

'प्रेमाश्रम' में प्रेमचन्द भारतीय ग्रामीण समाज की संरचना का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करते हैं। समाज में कार्य-विभाजन जाति के आधार पर निश्चित है। कौन घास छील सकता है, कौन लीप सकता है, कौन खेत जोतेगा, यह सब सामाजिक परंपरा द्वारा निर्धारित है। जब तहसीलदार के आदमी द्वारा निम्न जाति के व्यक्ति को घास छीलने के लिए बाध्य किया जाता है, तो वह प्रतिवाद करता है। उसका कथन- "घास चमार छीलते हैं, हमारा काम नहीं है।"[1] यह स्पष्ट करता है कि जातिगत पहचान व्यक्ति की सामाजिक स्थिति और कार्य-सीमा दोनों को नियंत्रित करती है। यहाँ प्रेमचन्द केवल व्यवस्था का चित्रण नहीं कर रहे, बल्कि उसकी अंतर्विरोधी प्रकृति को भी उजागर कर रहे हैं। दलित और पिछड़ी जातियों के भीतर भी परस्पर ऊँच-नीच की भावना विद्यमान है। इस प्रकार जाति-व्यवस्था केवल द्वि-विभाजन (ऊँच-नीच) नहीं, बल्कि बहुस्तरीय संरचना है। प्रेमचन्द इस तथ्य को उजागर करते हैं कि जिस प्रकार उच्च जातियों में छोटे-बड़े का भेद है, उसी प्रकार निम्न जातियों में भी श्रेष्ठता-बोध की भावना विद्यमान है। इससे यह सिद्ध होता है कि सामाजिक विषमता केवल ऊपर से थोपी गई संरचना नहीं, बल्कि वह मानसिक संस्कार का रूप धारण कर चुकी है।

'प्रेमाश्रम' का रचना-काल राष्ट्रीय जागरण का समय है। इस काल में स्वतंत्रता आंदोलन ग्रामीण समाज तक पहुँच रहा था। सामाजिक असमानता और औपनिवेशिक शोषण दोनों के विरुद्ध चेतना विकसित हो रही थी। उपन्यास में निम्न वर्गों की असंतुष्टि और उनका आत्मसम्मान राष्ट्रीय आंदोलन की व्यापक चेतना से जुड़ता है। प्रेमचन्द यह संकेत करते हैं कि यदि समाज के भीतर व्याप्त जातिगत अन्याय समाप्त नहीं होगा, तो राष्ट्रीय स्वतंत्रता का आदर्श अधूरा रहेगा।

प्रेमचन्द का उपन्यास 'रंगभूमि' भारतीय समाज के बहुस्तरीय यथार्थ का व्यापक आख्यान है। यद्यपि इसका केंद्रीय कथानक औपनिवेशिक शोषण और पूँजीवादी विस्तार के विरुद्ध संघर्ष से जुड़ा है, तथापि इसके भीतर सामाजिक

वर्ष- 1, अंक- 1 (जनवरी–मार्च 2026)
ISSN: 3139-5317 (Online), 3139-5325 (Print)

विषमता, जातिगत विभाजन और दलित प्रश्न का गहन चिंतन भी अंतर्निहित है। 'रंगभूमि' में दलित–चिंतन प्रत्यक्ष राजनीतिक घोष के रूप में नहीं, बल्कि सामाजिक व्यवहार, मानसिकता और मानवीय संबंधों के चित्रण के माध्यम से उभरता है। जब भैरो सूरदास के भतीजे को पीटता है और उसके व्यवहार में जातिगत अहंकार उभरता है, तब यह स्पष्ट होता है कि समाज में जाति-आधारित श्रेष्ठता–बोध कितनी गहराई से रचा-बसा है। भैरो की प्रतिक्रिया केवल व्यक्तिगत क्रोध नहीं है, बल्कि वह उस सामंती मानसिकता का प्रतीक है जिसमें निम्न कही जाने वाली जातियों को बराबरी का अधिकार नहीं दिया जाता। यहाँ प्रेमचन्द यह संकेत करते हैं कि जाति–व्यवस्था केवल बाह्य आचरण नहीं, बल्कि मानसिक संस्कार बन चुकी है। व्यक्ति की प्रतिक्रिया, उसकी भाषा और उसका आचरण सभी में जातिगत विभाजन का प्रभाव दिखाई देता है।

भैरो के आचरण से तंग आकर उसकी पत्नी सूरदास की शरण मे चली जाती है। वह कहता है- "मुझे सबसे बड़ा मलाल तो यह है कि अभागिनि गयी तो चमार के साथ गयी।"[2] उसके कथन में यह स्पष्ट है कि जाति उसके लिए नैतिकता से अधिक महत्वपूर्ण है। यदि वही स्त्री किसी उच्च जाति या संपन्न व्यक्ति के साथ जाती, तो उसे उतना दुःख न होता। यह दृष्टिकोण सामाजिक विडंबना को उद्घाटित करता है, जहाँ नैतिकता का मूल्यांकन भी जाति के आधार पर होता है। प्रेमचन्द इस प्रसंग के माध्यम से यह दिखाते हैं कि जातिगत भेदभाव मनुष्य की मानवीय संवेदनाओं को भी विकृत कर देता है। व्यक्ति का आत्मसम्मान और सामाजिक प्रतिष्ठा जाति से जुड़ जाती है, जिससे सामाजिक संबंधों में कृत्रिमता और विभाजन उत्पन्न होता है।

सूरदास 'रंगभूमि' का केंद्रीय पात्र है। उसके भीतर जातिगत संकीर्णता नहीं है। वह शोषित वर्ग का प्रतिनिधि होते हुए भी मानवीय समता का प्रतीक बन जाता है। सूरदास की मृत्यु के पश्चात् जो प्रीतिभोज आयोजित होता है, उसमें छूत–अछूत का भेद समाप्त होकर सभी एक पंक्ति में बैठकर भोजन करते हैं। यह दृश्य केवल सामाजिक आयोजन नहीं, बल्कि प्रतीकात्मक घटना है। यह उस आदर्श की ओर संकेत करता है जिसमें जातिगत विभाजन का अंत हो जाता है। उद्धृत अंश में उल्लेख है कि "संध्या समय प्रीतिभोज हुआ, छूत और अछूत साथ बैठकर एक ही पंक्ति में खा रहे थे। यह सूरदास की सबसे बड़ी विजय थी।"[3] यह प्रसंग उपन्यास में दलित–चिंतन की चरम अभिव्यक्ति है। यहाँ भोजन केवल सामाजिक क्रिया नहीं, बल्कि समता का प्रतीक है। भारतीय समाज में भोजन–व्यवस्था जातिगत विभाजन का प्रमुख आधार रही है। एक साथ बैठकर भोजन करना सामाजिक समानता की घोषणा के समान है। यद्यपि यह घटना अस्थायी हो सकती है, परंतु इसका सांकेतिक महत्व अत्यंत गहरा है। यह दर्शाता है कि परिवर्तन संभव है और सामाजिक रूढ़ियाँ अटूट नहीं हैं। उपन्यास में निहित दलित–चिंतन सामाजिक यथार्थ की तीखी आलोचना और मानवीय समता की स्थापना की आकांक्षा दोनों को अभिव्यक्त करता है। जातिगत अहंकार, सामाजिक अपमान और रूढ़िगत मानसिकता का चित्रण करते हुए प्रेमचन्द यह दिखाते हैं कि समाज का पुनर्निर्माण आवश्यक है। सूरदास का चरित्र और प्रीतिभोज का प्रसंग यह सिद्ध करते हैं कि प्रेमचन्द की दृष्टि में दलित–मुक्ति केवल सहानुभूति का विषय नहीं, बल्कि सामाजिक परिवर्तन का लक्ष्य है।

प्रेमचंद के 'कर्मभूमि' उपन्यास में दलित चिंतन का स्वर अत्यंत सशक्त और यथार्थपरक रूप में उभरकर सामने आता है। उपन्यास में सामाजिक असमानता और जातिगत भेदभाव की गहरी जड़ें स्पष्ट रूप से दिखाई गई हैं। अमरकांत जब अछूत बच्चों से पूछता है- "तुम कहाँ पढ़ने जाते हो?"[4] तो बालक का उत्तर अत्यंत मार्मिक है- "कहाँ जाएँ, हमें कौन पढ़ाये? मदरसे तो कोई जाने नहीं देता... पंडितजी ने नाम लिख लिया, पर हमें सबसे अलग बैठाते थे। सब लड़के हमें 'चमार-चमार' कहकर चिढ़ाते थे।"[5] यह संवाद उस समय की सामाजिक संरचना की कठोरता को उजागर करता है, जहाँ शिक्षा जैसे मौलिक अधिकार से भी दलितों को वंचित रखा जाता था। विद्यालय में अलग बैठाना और अपमानजनक

संबोधन से पुकारना उनके आत्मसम्मान पर आघात है। दलितों के सामाजिक बहिष्कार, शैक्षिक वंचना और मानवीय अधिकारों के हनन को चित्रित करते हुए लेखक ने समानता, सहानुभूति और सामाजिक न्याय की आवश्यकता पर बल दिया है। उपन्यास का दलित चिंतन केवल करुणा तक सीमित नहीं, बल्कि सामाजिक परिवर्तन की चेतना जगाने वाला है, जो भारतीय समाज को आत्ममंथन के लिए प्रेरित करता है।

'गोदान' में जाति-व्यवस्था की जटिलता और सामाजिक पाखंड का गहन विश्लेषण मिलता है। ब्राह्मणवादी संरचना के भीतर नैतिकता और धर्म के नाम पर जो भेदभाव स्थापित है, वह उपन्यास के विभिन्न प्रसंगों में उद्घाटित होता है। दलित पात्रों के साथ व्यवहार और सामाजिक संबंधों का चित्रण यह स्पष्ट करता है कि धार्मिकता का बाह्य प्रदर्शन वास्तविक मानवीयता से रिक्त है। पंडित दातादीन का पुत्र मातादीन एक ओर ब्राह्मण होने के कारण सामाजिक प्रतिष्ठा, धार्मिक कर्मकांड और शुद्धता का दावा करता है। वह तिलक लगाता है, पोथी पढ़ता है, कथा-भागवत कहता है और नित्य स्नान-पूजा के माध्यम से स्वयं को धर्मनिष्ठ सिद्ध करता है, किन्तु दूसरी ओर वह अछूत स्त्री सिलिया के साथ संबंध बनाकर भी अपने ब्राह्मणत्व पर आंच नहीं आने देता। समाज की दृष्टि में उसका यह आचरण तब तक अपराध नहीं है, जब तक वह विवाह जैसी सामाजिक स्वीकृति नहीं देता। यहाँ धर्म और जाति की दोहरी व्यवस्था स्पष्ट होती है, जहाँ शारीरिक शोषण स्वीकार्य है, पर सामाजिक समता अस्वीकार्य। प्रेमचंद ने इस प्रसंग के माध्यम से दिखाया है कि ऊँची जाति का व्यक्ति अपने पापों का प्रायश्चित तो कर सकता है, पर अछूत को समान दर्जा देने का साहस नहीं करता। जब चमार समुदाय द्वारा उसके मुँह में हड्डी डालकर उसे 'धर्मभ्रष्ट' किया जाता है, तब उसकी चेतना जागती है और वह स्वयं कह उठता है कि जो अपना धर्म निभाए वही सच्चा ब्राह्मण है। इस प्रकार उपन्यास में जाति-आधारित दंभ, सामाजिक पाखंड और मानवता के प्रश्न को तीव्रता से उभारा गया है, जिससे स्पष्ट होता है कि 'गोदान' केवल कृषक-जीवन का आख्यान नहीं, बल्कि जातिगत विषमता पर करारा प्रहार भी है। प्रेमचन्द की विशेषता यह है कि वे दलित पात्रों को केवल पीड़ित के रूप में नहीं चित्रित करते, बल्कि उनमें आत्मसम्मान की भावना का विकास भी दिखाते हैं। यह आत्मसम्मान ही दलित चेतना का मूल आधार है। राष्ट्रीय आंदोलन के प्रभाव से समाज के वंचित वर्गों में अधिकार-बोध का उदय हुआ। साहित्य ने इस प्रक्रिया को प्रतिबिंबित किया। दलित चेतना का अर्थ केवल सामाजिक अन्याय का चित्रण नहीं, बल्कि उस अन्याय के विरुद्ध प्रतिरोध की भावना का उद्भव भी है। प्रेमचन्द के पात्र परिस्थितियों से संघर्ष करते हैं और अपने अस्तित्व को स्वीकार कराने का प्रयास करते हैं। यह प्रवृत्ति राष्ट्रीय आंदोलन की जनवादी चेतना से प्रेरित है।

प्रेमचंद्र की भाँति ही जयशंकर प्रसाद के उपन्यासों में भी सामाजिक विषमता का चित्रण मिलता है। 'कंकाल' में जाति-व्यवस्था की नैतिक विसंगतियों को उभारा गया है। प्रसाद का दृष्टिकोण दार्शनिक और मानवीय है। वे मनुष्य को उसकी जाति से नहीं, बल्कि उसके कर्म और व्यक्तित्व से पहचानने की बात करते हैं। प्रसाद के पात्र सामाजिक बंधनों से जूझते हैं और यह अनुभव करते हैं कि जातिगत विभाजन राष्ट्र की एकता में बाधा है। उनके यहाँ दलित चेतना प्रत्यक्ष राजनीतिक रूप में नहीं, बल्कि नैतिक और मानवीय प्रश्न के रूप में सामने आती है। यह दृष्टिकोण राष्ट्रीय आंदोलन के आदर्शों से प्रेरित है, जहाँ समानता और मानवता की स्थापना पर बल दिया गया। उपन्यास में दलित–चेतना धर्म और जाति के नाम पर स्थापित सामाजिक विषमता की गहरी आलोचना के रूप में प्रकट होती है। प्रसाद यह प्रश्न उठाते हैं कि धर्म यदि करुणा और समता का संदेश देता है, तो फिर हिंदू स्त्रियों, शूद्रों और अछूतों के साथ अमानवीय व्यवहार क्यों किया जाता है। उपन्यास में व्यक्त चिंतन के अनुसार वर्ण–भेद ईश्वरकृत नहीं, बल्कि समाज की निर्मित व्यवस्था है, जिसने मनुष्य को मनुष्य से अलग कर दिया है। प्रसाद के पात्र स्पष्ट रूप से कहते हैं कि "प्रत्येक व्यक्ति अपनी झूठी महत्ता पर इतराता हुआ दूसरे को नीचा समझता है, "[6] और इसी मानसिकता से सामाजिक विषमता का विस्तार होता।

वर्ष- 1, अंक- 1 (जनवरी–मार्च 2026)
ISSN: 3139-5317 (Online), 3139-5325 (Print)

उपन्यास का पात्र निरंजन यह कटु सत्य उद्घाटित करता है कि वर्ण–भेद के दुष्परिणामों को जानते हुए भी समाज उसे बनाए रखने पर तुला है। अंततः प्रसाद का संदेश स्पष्ट है- "किसी को शबरी के सदृश अछूत न समझो, किसी को अहल्या के सदृश पापिनी मत मानो"[7] अर्थात् मानव-मूल्य जाति या जन्म से नहीं, बल्कि उसकी मनुष्यता से निर्धारित होने चाहिए। इस प्रकार 'कंकाल' में निहित दलित–चेतना सामाजिक अन्याय के विरुद्ध मानवीय समता और नैतिक जागरण का सशक्त आह्वान प्रस्तुत करती है।

पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' ने अपने उपन्यासों और कहानियों में सामाजिक रूढ़ियों पर तीखा प्रहार किया। उनके लेखन में विद्रोही स्वर स्पष्ट रूप से सुनाई देता है। उग्र कृत 'मनुष्यानन्द' उपन्यास में निहित दलित–चिंतन सामाजिक अपमान और मानवीय गरिमा के प्रश्न को अत्यंत मार्मिक रूप में प्रस्तुत करता है। उपन्यास में एक अछूत पात्र अपनी स्थिति का वर्णन करते हुए कहता है कि उसे "देहातवाले कुरता पहनने नहीं देते"[8] और यह तक कहा जाता है- "सारे भंगी की जात और पहने ऊँचों की तरह कुरता!"[9] यहाँ तक कि यदि वह घुटनों से ऊँची धोती पहन ले या सार्वजनिक स्थान पर पानी पीने का प्रयास करे, तो उसे गालियाँ और मार सहनी पड़ती हैं। ये कथन केवल व्यक्तिगत अनुभव नहीं, बल्कि उस सामाजिक मानसिकता का उद्घाटन करते हैं जिसमें दलितों के लिए पहनावा, रहन-सहन और व्यवहार तक नियंत्रित कर दिए गए हैं। यहाँ यह स्पष्ट है कि जाति-व्यवस्था मनुष्य की स्वतंत्रता और आत्मसम्मान को सीमित कर देती है, और उसे जन्म के आधार पर हीनता का बोझ ढोने के लिए बाध्य करती। उन्होंने जातिगत पाखंड और धार्मिक आडंबर की आलोचना की तथा समाज की दोहरी मानसिकता को उजागर किया।'उग्र' के साहित्य में दलित प्रश्न को नैतिकता और सामाजिक न्याय के संदर्भ में देखा गया है। वे यह मानते हैं कि जब तक समाज की मानसिकता में परिवर्तन नहीं होगा, तब तक वास्तविक समानता संभव नहीं है। इस प्रकार उनके साहित्य में भी दलित चेतना राष्ट्रीय पुनर्जागरण की व्यापक प्रक्रिया का अंग बनती है।

राष्ट्रीय आंदोलन का प्रभाव हिन्दी साहित्य पर स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। साहित्यकारों ने अनुभव किया कि सामाजिक विषमता राष्ट्र की शक्ति को क्षीण करती है। इसलिए दलित प्रश्न केवल सामाजिक सुधार का विषय नहीं, बल्कि राष्ट्रीय एकता का प्रश्न भी बन गया। प्रेमचन्द और उनके समकालीन उपन्यासकारों ने यह स्थापित किया कि राजनीतिक स्वतंत्रता तभी सार्थक होगी, जब समाज के सबसे निचले पायदान पर खड़े व्यक्ति को भी सम्मान और समान अवसर प्राप्त होंगे। यह विचार दलित चेतना का मूल तत्त्व है।

स्वाधीनता आंदोलन ने दलित प्रश्न को सामाजिक सुधार की परिधि से निकालकर राष्ट्रीय विमर्श के केंद्र में स्थापित किया, पूर्व-स्वाधीनता हिन्दी उपन्यासों में दलित चेतना का उदय एक महत्वपूर्ण बौद्धिक घटना थी। इसने समाज को आत्ममंथन के लिए प्रेरित किया और यह संकेत दिया कि सामाजिक समानता के बिना राष्ट्र की संकल्पना अधूरी है। प्रेमचन्द और अन्य उपन्यासकारों ने यह स्पष्ट किया कि जातिगत भेदभाव मानवता के मूल सिद्धांतों के प्रतिकूल है। उनके पात्रों के माध्यम से यह संदेश दिया गया कि मनुष्य की पहचान उसकी जाति से नहीं, बल्कि उसके कर्म और नैतिकता से होनी चाहिए। इस काल के उपन्यासों में दलित पात्रों का आत्मसम्मान विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वे परिस्थितियों के समक्ष पूरी तरह निष्क्रिय नहीं रहते, बल्कि अपने अस्तित्व को स्वीकार कराने का प्रयास करते हैं। यह प्रवृत्ति राष्ट्रीय आंदोलन की जनवादी चेतना से प्रेरित थी, जिसने प्रत्येक व्यक्ति को स्वतंत्रता और समानता का अधिकारी माना। साहित्य ने इस चेतना को व्यापक समाज तक पहुँचाने का कार्य किया। पाठकों के भीतर संवेदना और विचार की प्रक्रिया को सक्रिय करते हुए उपन्यासों ने सामाजिक परिवर्तन की दिशा में मानसिक आधार तैयार किया। यह साहित्यिक प्रतिबद्धता ही दलित चेतना की शक्ति है।

वर्ष- 1, अंक- 1 (जनवरी–मार्च 2026)
ISSN: 3139-5317 (Online), 3139-5325 (Print)

राष्ट्रीय आंदोलन का मूल उद्देश्य राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त करना था, परंतु इसके साथ ही सामाजिक समरसता और समानता की स्थापना का आदर्श भी जुड़ा हुआ था। हिन्दी उपन्यासों में यह विचार बार-बार प्रतिध्वनित होता है कि राष्ट्र तभी सशक्त होगा, जब उसके सभी वर्ग समान अधिकारों और अवसरों से युक्त होंगे। दलित चेतना का उदय इस व्यापक राष्ट्रीय चेतना का ही अंग है। उपन्यासकारों ने यह स्पष्ट किया कि जातिगत विभाजन राष्ट्र की शक्ति को क्षीण करता है। सामाजिक विषमता राष्ट्रीय एकता के मार्ग में बाधा है। अतः दलित प्रश्न का समाधान केवल सामाजिक न्याय का विषय नहीं, बल्कि राष्ट्रीय पुनर्निर्माण की अनिवार्य शर्त है।

निष्कर्ष

पूर्व-स्वाधीनता कालीन हिन्दी उपन्यासों में दलित चेतना का विकास भारतीय समाज में हो रहे व्यापक परिवर्तन का द्योतक है। राष्ट्रीय आंदोलन ने सामाजिक प्रश्नों को राजनीतिक संदर्भ प्रदान किया और साहित्य ने उन्हें मानवीय तथा नैतिक दृष्टि से अभिव्यक्त किया। प्रेमचन्द, जयशंकर प्रसाद तथा अन्य उपन्यासकारों की रचनाएँ इस बात का प्रमाण हैं कि साहित्य सामाजिक यथार्थ को उद्घाटित करने के साथ-साथ परिवर्तन की प्रेरणा भी देता है। इन उपन्यासों में दलित जीवन का चित्रण सामाजिक विषमता की आलोचना है और समानता की स्थापना की आकांक्षा का घोष भी। यद्यपि इनकी सीमाएँ हैं, फिर भी इनका ऐतिहासिक महत्व असंदिग्ध है। इन्होंने समाज को यह सोचने के लिए बाध्य किया कि स्वतंत्रता केवल राजनीतिक सत्ता-परिवर्तन नहीं, बल्कि सामाजिक न्याय और मानवीय गरिमा की पुनर्स्थापना का नाम है। अतः यह कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय आंदोलन और हिन्दी उपन्यासों में अभिव्यक्त दलित चेतना परस्पर पूरक संबंध रखते हैं। दोनों ने मिलकर भारतीय समाज में समानता, न्याय और मानवता की स्थापना की दिशा में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

संदर्भ सूची-

1. प्रेमचन्द, प्रेमाश्रम, इलाहाबाद, सरस्वती प्रेस, पृष्ठ संख्या 185
2. प्रेमचन्द, रंगभूमि, इलाहाबाद, सरस्वती प्रेस, पृष्ठ संख्या 193
3. वही, पृष्ठ संख्या 428
4. प्रेमचन्द, कर्मभूमि, इलाहाबाद, सरस्वती प्रेस, पृष्ठ संख्या 152
5. वही
6. जयशंकर प्रसाद. कंकाल. वाराणसी: भारती भवन, पृष्ठ संख्या 169
7. वही, पृष्ठ संख्या 189-90
8. पाण्डेय बेचन शर्मा ‘उग्र’, मनुष्यानन्द, इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन, पृष्ठ संख्या 157
9. वही